परंपरा के अंतर्गत एक प्रयोग

अशोक दामोदर रानडे

(मूल प्रसिद्धी - कुमार गंधर्व, संपा. अशोक वाजपेयी, अनुवाद : रमेशचंद्र शाह, राजकमल प्रकाशन, फरवरी १९८२)

अभी पिछले दिनों डॉ. कुमार गंधर्व ने अपनी पचासवीं वर्षगाँठ मनायी है। हममें से जो लोग कलात्मक प्रौढ़ता और बौद्धिक वयस्कता के आधार पर किसी व्यक्ति की आयु आँकते हैं उनके लिए तो कुमार गंधर्व बहुत पहले ही इस अवस्था को पार कर चुके हैं। फिर भी, शायद सभी लोगों के लिए ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध के इतने बड़े अंतर का आनंद उठाना संभव नहीं होता, अतः मात्र स्मरण दिलाने के लिए भी इस समारोह की उपयोगिता निस्संदेह थी। इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि कुमार गंधर्व की वह विशेषता, जो उन्हें औरों से अलग एक विलक्षणता प्रदान करती है, उनकी केवल वरिष्ठता न होकर यह सांगीतिक परिपक्वता ही है। यह वर्षगाँठ हमें भी एक अवसर देती है, इस विशिष्ट परिपक्वता को समझने और उसके सभी अवयवों को विश्लेषित करने की ।

मेरे विचार में कलात्मक प्रौढ़ता या परिपक्वता उस सामर्थ्य में निहित होती है जो महज रूढ़ि और असल परम्परा के बीच विवेक कर सकती है। यहाँ परंपरा और रूढ़ि की भिन्नता को ब्यौरों में जाकर स्पष्ट करने की गुंजाइश नहीं है। संक्षेप में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि दोनों के बीच का असल अंतर एक की समावेशी सामर्थ्य और दूसरे की लोचहीन कट्टरता से ताल्लुक रखता है। निश्चय ही संगीत में दोनों की अपनी-अपनी जगह ज़रूरी भूमिकाएँ हैं, किन्तु जहाँ तक सृजन-प्रक्रिया और कलात्मक अवतारणाओं का संबंध है, वहाँ महत्त्व रूढ़ि का नहीं होता। वहाँ तो परंपरा का अर्जित बोध ही है जो किसी कलाकार को बिना कुछ भी नष्ट किये क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की शक्ति देता है और साथ ही यह विवेक भी देता है कि वह नवीनता को नवीनता की जगह रख सके और आधुनिकता को आधुनिकता की जगह। रूढ़िवादिता हमेशा कला-परंपराओं के प्रवाह में रोड़े अटकाने वाली सिद्ध हुई है, जिसका नतीजा यह होता है कि अतीत और वर्तमान के बीच एक अनावश्यक दरार पैदा हो जाती है। इस दरार के फलस्वरूप एक अवांछनीय वैचारिक गतिरोध पैदा होता है जिसके चलते नये-नये फ़ैशनों, नयी-नयी सनकों और ज्यादतियों की ऐसी बाढ़ आ जाती है जो कला के नाम पर समाज में अराजकता फैलाने लगती है। ऐसी परिस्थिति पर वही कलाकार नियंत्रण पा सकता है - उसी की सचमुच ज़रूरत भी महसूस होती है - जो अतीत की व्यावहारिक उपलब्धियों का पुनर्नवीकरण कर सके और साथ ही उन नवोन्मेषी तत्त्वों को आधुनिक दृष्टिकोण के साथ मजबूती से जोड़ सके। एक बड़ी प्रतिभा का ऐसा बड़ा पुरुषार्थ ही समूचे कलात्मक परिदृश्यों को समूचे समाज की वास्तविक ज़रूरतों के संदर्भ में अर्थवान और प्रासंगिक बना सकता है।

जिस समय कुमार गंधर्व ने भारतीय संगीत-जगत में पाँव रखा, खयाल-गायकी अपना सारा लचीलापन खो चुकी थी और उतनी ही रूढ़िग्रस्त थी जितना कि बैसाखियों पर टिका हुआ ध्रुपद। तराना का मतलब था चाहे जैसे मनमाने ढंग से जबान को तोड़ा-मरोड़ा जाये, टप्पा एक नीरस सरकसी उछल-कूद बनकर रह गया था, भजन अभी मंत्र-पाठ के स्तर पर ही था और कुल मिलाकर पूरा का पूरा संगीत अपने सभी रूपों में अजीब जड़ता और गतिरोध का शिकार था। कुमार गंधर्व ने लगभग अकेले अपने बूते पर इस दमघोंट परिस्थिति को बदलने का कोशिश की। उनके इस प्रयत्न में भरपूर निष्ठा और अचूक स्वर-संवेदना तो थी ही, उन बारीक़ ब्यौरों के निर्वाह की भी ऐसी अभूतपूर्व सजगता थी जिन्हें कि अधिकतर संगीतज्ञ जानबूझकर अनदेखा कर रहे थे और अपने आत्मतुष्ट प्रमाद को ही वास्तविक परंपरा समझे बैठे थे। निश्चय ही, कुमार गंधर्व अपने सभी प्रयत्नों में सफल नहीं हुए और न ही उन्हें अपने सभी सफल प्रयत्नों में एक जैसी सफलता मिली है। किंतु सभी दृष्टियों से इतना तो प्रकट ही है कि उनकी आंशिक सफलताएँ या विफलताएँ भी उन चीज़ों से, उस यथास्थिति से हर हालत में बेहतर थीं जिन्हें कि उन्होंने बदलना चाहा था। उन्हीं के प्रयत्नों का सुफल है कि जैसी

विरासत उन्हें मिली थी उसे देखते हए आज का संगीत-संसार कहीं बेहतर है। किसी भी संगीतज्ञ के लिए यह एक श्रेयस्कर उपलब्धि होगी।

प्रश्न यह है कि कुमार गंधर्व ने ये ठोस नतीजे कैसे प्राप्त किये ? इस संबंध में विश्लेषण और मूल्यांकन तक पहुँचने के कई रास्ते हो सकते हैं। एक रास्ता तो यही है कि संगीत के अनेक रूपों में कुमार गंधर्व का जो योगदान है, उसी को हम बारीक़ी से जाँच-पड़ताल कर देखें।

पहले खयाल गायकी को ही लें। जितने भी चालू घराने थे, सभी में खयाल-गायकी का ढंग-ढर्रा बुरी तरह नियम-पाबंदियों में जकड़ा हुआ था। ऐसे समय कुमार गंधर्व उसकी संरचनात्मक एकरसता को तोड़ने के लिए आगे आए। श्रोताओं ने गौर किया होगा कि भले ही खयाल की बंदिश शुरू करने के पहले वह नोम्-तोम् का पिटा-पिटाया रवैया नहीं अपनाते, फिर भी गाए जाने वाले राग के कुछ ध्वन्यात्मक खाके अवश्य अपनी आवाज़ से बनाते हैं। ये स्वर-लहरियाँ बार-बार इसलिए दोहराई जाती हैं कि राग के मूल स्वरूप का आवाहन किया जा सके, न कि राग का विस्तार करने के लिए। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पहले महज़ राग का व्याकरण बघारने की प्रवृत्ति थी, कुमार गंधर्व ने उसके स्थान पर स्वर की व्यंजनात्मक और रसात्मक विशेषताओं को उभारने पर जोर दिया है। यह तो हुई विलंबित की बात। जहाँ बंदिश को सीधे मध्यलय में गाना हो वहाँ तो उन्हें इस भूमिका की भी ज़रूरत नहीं होती। यह निश्चय ही तर्कसंगत है क्योंकि मध्यलय के स्वभाव में ही यह निहित है कि संगीत-कर्म में सीधी छलांग लगायी जाए।

दरअसल, कुमार गंधर्व अपने गायन में मध्यलय का ही ज़्यादातर इस्तेमाल किया करते हैं और इसके कारण उनके संगीत में श्रोताओं को तुरंत अपने में लपेट लेने की खूबी पैदा हो गयी है। एकाएक सारा वातावरण संगीतमय हो उठता है। कुमार गंधर्व का गायन उस प्रकार की गलेबाज़ी नहीं है जो धीरे-धीरे बड़े आडंबर के साथ शुरू होती है और बमुश्किल काफी देर बाद - श्रोताओं के धीरज की खासी बलि लेने के बाद अपने संगीत होने का एहसास कराती है। कुमार गंधर्व के गायन में श्रोता और संगीतकार शुरू से ही संगीत-प्रवाह के बीचोंबीच डूबे रहते हैं। एक तरह से देखा जाये तो कुमार का संगीत आरंभ नहीं होता, वह सिर्फ़ चलता रहता है, लगातार मध्यलय के इस सर्वव्यापी उपयोग को छोड़ भी दें तो कुमार गंधर्व के संगीत की यह प्रत्यक्षता, यह सीधे-सीधे अपने में बाँध और लपेट लेनेवाली विशेषता उनकी इस उपरोक्त रूढ़िविरोधी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है : खयाल गायकी की उस तैयारी के नाम पर खड़े किये गये सारे तामझाम से एकबारगी मुक्ति पा लेने का। जोश में आने के लिए अपनाये जाने वाले ये आडंबरपूर्ण तरीके कई तरह के हैं : जटिल और दीर्घ स्वर-विन्यासों तक पहुँचने के लिए पहले उनकी थाह लेने की कोशिश करते हुए-से कई झिझकते उपक्रमों का सहारा लेना, या अपने कंठस्वर की क्षमता को बहुत ही सँभाल-सँभालकर, बचा-बचाकर, जरूरत से ज्यादा चौकन्नापन बरतते हुए प्रदर्शित करना, या मंद्र और मध्य सप्तक के छोटे फलक पर ही पूरी तरह एक ही ढर्रे में निर्भर रहते हुए उसी को पीटते रहना और ऐसी ही कुछ और युक्तियाँ। कुमार गंधर्व की खयाल गायकी इन सारी बैसाखियों की ज़रूरत से मुक्त है और इसीलिए वह हमें स्वरों के समुद्र में सीधे अवगाहन करने का सुखद अनुभव प्रदान करती है।

हमने देखा कि ऊपर बतायी गयी ये दोनों विशेषताएँ - व्याकरण-प्रदर्शन की जगह स्वरों की व्यंजनाशक्ति का उपयोग और प्रत्यक्षता हासिल करने के लिए मध्यलय का आग्रह - खयाल गायकी के प्रचलित और सर्वव्यापी ढर्रे से कुमार गंधर्व की असहमति का संकेत करती है। इसके अलावा एक और नया तत्त्व जो कुमार गंधर्व के यहाँ दिखाई पड़ता है, वह यह है कि कुमार गंधर्व खयाल गायकी की शुरूआत में ही पूरी बंदिश गा देने की अनिवार्यता भी नहीं पालते। कभी-कभी वह पूरी बंदिश पेश करने से पहले काफ़ी देर तक बार-बार बंदिश के मुखड़े को ही बदल-बदलकर या आलाप के सुरों में गाते रहते हैं। जाहिर है कि यह भी राग के स्वरूप का आवाहन करने की ही प्रक्रिया का अंग है। इसका अर्थ यह भी है कि कुमार गंधर्व बंदिश को पूर्वराग की तरह नहीं बल्कि समापन

की तरह देखते हैं। ऐसा नहीं कि वह बंदिश को महत्त्व नहीं देते : महत्त्व देते हैं, यह तो इसी से जाहिर है कि वह उसे कई बार पूरा-पूरा गाकर सुनाते हैं। फ़र्क इतना ही है कि ताल शुरू होते ही वह तुरंत उसे गाने नहीं बैठ जाते। यह भी परंपरागत रिवाज़ से हटकर है और कभी-कभी श्रोताओं को इससे थोड़ी असुविधा भी हो सकती है, क्योंकि कई बार कुछ श्रोतागण बंदिश के आधार पर ही राग को पकड़ने के आदी होते हैं। इससे लेकिन इनकार नहीं किया जा सकता कि इस बदले हुए तरीके के पीछे जो तर्क है वह प्रस्तुति के विषय में एक नयी चिंतनशीलता को प्रमाणित करता है। अगर आप बंदिश को ख़याल गायकी का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं तो फिर आपको यह भी मानना चाहिए कि उसे तब तक समूचा पेश न किया जाए जब तक आपको यह विश्वास न हो जाए कि श्रोता की ग्रहणशक्ति और गायक की एकाग्रता दोनों अब चरम पर पहुंच चुकी है। कुमार गंधर्व का बंदिश पेश करने का ढंग किसी भी अर्थ में कामकाजी या चलताऊ नहीं है। उसका एक-एक अक्षर पूरी स्पष्टता के साथ उच्चरित किया जाता है, उसकी धुन और सूरों को पूरे कौशल के साथ अदा किया जाता है, उसकी लय-ताल को पूरी तरह उभारा जाता है। दूसरे शब्दों में, बंदिश को महज़ जैसे-तैसे पेश कर देना नहीं बल्कि उसके संपूर्ण संगीतात्मक अर्थ को संप्रेषित करना उनका असली ध्येय है। पुराने ढर्रे के मुताबिक शुरू में ही उसे न रखकर, थोड़ा अंतराल देकर लाने से कभी-कभी सचमुच रस की सृष्टि हो जाती है।

इसके बाद जो अगला चरण है, वह है राग विस्तार का। इस सीढ़ी पर कुमार गंधर्व आलाप से ज्यादा बोल-आलापों पर निर्भर करते हैं। जब वह 'आ'कार ('आ' स्वर का प्रयोग) पर जोर देते हैं तो उनके आलाप-अंग छोटे और द्रुत होते हैं। प्रारम्भ में ऐसा लग सकता है कि लंबी साँस न खींच सकने का शारीरिक कारण इसके पीछे होगा, पर एक गहनतर कलात्मक आशय भी कहीं-न-कहीं इसमें अवश्य निहित लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमार के लिए संगीत की बुनियादी इकाई अकेले स्वर का लंबा-खिंचा, कानों को तृप्त करने वाला आलाप नहीं है, बल्कि गायकी अंग का छोटे-से-छोटा टुकड़ा ही अपनी विशिष्टता में वह इकाई है। मेरी राय में, भारतीय राग के विशिष्ट स्वभाव और चरित्र से परिचित किसी भी व्यक्ति को इसमें आपत्ति नहीं हो सकती। आखिर यह सांगीतिक वाक्यांश (म्यूजिकल फ्रेज़ेज) को एक-दूसरे से गूँथकर खड़ी की गयी संरचना ही तो है जो किसी गायन को शास्त्रीय राग के स्तर तक उठाती है, एक राग को दूसरे रागों से अलग उसका विशिष्ट व्यक्तित्व और पहचान देती है, और समान उद्देश्य, समान शैली में एक ही राग को प्रस्तुत करनेवाले एक कलाकार को दूसरे कलाकार से अलग करती है। राग के असली निर्माता ये छोटे-छोटे 'म्यूजिकल फ्रेज़ेज' ही हैं, वही राग को व्यक्तित्व देते हैं। उनकी अभिव्यक्ति इसीलिए सुस्पष्ट, सचोट और एकाग्र होनी आवश्यक है। 'आ'कार का उपयोग कुमार गंधर्व के यहाँ बहुत सोद्देश्य है। रूढ़िवादी संगीतज्ञों को उनका तरीक़ा ज़रूर आपत्तिजनक लगता होगा, क्योंकि वे तो राग-विस्तार की पूरी प्रक्रिया के दौरान 'आ'कार का उपयोग करते चले जाते हैं।

'आ'कार के सीमित उपयोग के अतिरिक्त कुमार गंधर्व के राग-विस्तरण की कुछ और भी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम तो यही कि उन्होंने वादी-संवादी स्वरों या 'पकड़' आदि के स्वीकृत प्रतिमानों से हटकर भी किसी राग के स्वरूप में नये स्वरात्मक संबंधों को खोजने और रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। दूसरे यह कि कुछ रागों जैसे देसकार, भूप, मालकंस में उन्होंने विवादी स्वरों का जानबूझकर, माधुर्य लाने के लिए, प्रयोग किया है। तीसरे, उन्होंने मारवा, मुलतानी, रामकली जैसे रागों के गायन में कभी-कभी स्वरों के ध्वन्यात्मक मूल्यों को बदलने की कोशिश भी की है, या तो उन्हें दबाकर या अतिरिक्त रूप से पैना करके। चौथे, कुछ रागों की समूची व्याख्या ही बदल डाली है। उदाहरण के लिए, राग धानी को उन्होंने अधिक शांत बना दिया है और भूप को अधिक अलंकृत। आश्चर्य की बात है कि ऐसी साहसिकता के बावजूद कोई गंभीर खतरे उभरकर सामने नहीं आते, क्योंकि श्रोतागण सारे समय संगीत के प्रभाव में खोए रहते हैं। एकाध प्रतिरोध शुरू-शुरू में शास्त्रीय ढंग का भले ही सिर उठाये, वह बाद में अपने आप विस्मृत हो जाता है। कुमार गंधर्व के राग-निर्वाह के बारे में एक सामान्यीकरण निकालना उचित लगता है : यह कि कुमार गंधर्व 'राग' को संगीत-शास्त्रीय ढाँचे और संरचना के रूप में न देखकर सांगीतिक वातावरण की ही एक अवधारणा के रूप में लेते हैं। दूसरे शब्दों में, पुराने संगीतज्ञों की इस

धारणा को कि राग की 'छाया' राग के ब्यौरों से कहीं अधिक महत्त्व रखती है - कुमार गंधर्व की निजी शैली उदाहृत और पुष्ट करती है। आखिर ब्यौरों की सार्थकता संपूर्ण प्रभाव से ही निर्दिष्ट होती है, न कि संपूर्ण प्रभाव की ब्यौरों से। देखा गया है कि संगीत की महफ़िलों में यह संपूर्ण प्रभाव ग्रहण कराने वाला गुण ही श्रोताओं को राग के जटिल विवरणात्मक प्रदर्शनों की अपेक्षा अधिक रमाता और बाँधता है।

कुमार गंधर्व बोल-तान के उपयोग में काफ़ी मितव्यय से काम लेते हैं, हालाँकि इधर हाल में वह उनका कुछ ज़्यादा उपयोग करने लगे हैं। तानों के मामले में भी वह बड़े संयम के पक्षधर हैं। कुमार गंधर्व की खयाल-गायकी की इन दोनों प्रवृत्तियों को 'प्रभावशाली और कल्पनाशील' कहके प्रशंसा करना महज़ अख़बारी आलोचना लग सकती है, क्योंकि ये ही विशेषण दूसरे भी कई संगीतज्ञों पर चिपकाये जा सकते हैं। वास्तव में कुमार गंधर्व का वैशिष्ट्य यहाँ भी एक दूसरे स्तर पर महसूस किया जा सकता है। यहाँ भी प्रचलित ढर्रे से अलग चले जाने में ही उनकी विशेषता ज़ाहिर होती है। यह अलगपन तानों और बोल-तानों के रूढ़ क्रम का यथावत अनुसरण न करने में ज़ाहिर होता है। सामान्यतः गायक लोग गायन की शुरू की सीढ़ियों पर तानों से एकदम बचे रहते हैं और बाद की सीढ़ियों में ही उन्हें पेश करते हैं : वह भी एक बँधी-बँधायी लीक पर - पहले बोल-तान और फिर तानें। कुमार गंधर्व की अदायगी इसके विपरीत काफ़ी लचीलापन लिये होती है और उन्हें किसी बँधे हुए सिलसिले का आग्रह नही रहता, इसके फलस्वरूप उनका संगीत - जहाँ तक इन चरणों का सवाल है - कम पूर्वानुमेय बन जाता है। इस बात को ज़रा और विस्तार से देखा जा सकता है। परंपरा से कुमार गंधर्व के विचलन को उचित में रखने के लिए।

आखिर बोल-तानों और तानों के एक बँधे हुए सिलसिले का पालन करने से उपलब्धि क्या होती है? पहली तो यही कि अगर संगीतकार संपूर्ण प्रभाव की सृष्टि में असफल हो गया है या होनेवाला है और बिना किसी प्रेरणा के खींचे जा रहा है तो इससे उसे एक टेक मिल जाती है। अपने गायन को निष्प्रभता और निरर्थकता की परिणति से उबारने के लिए यह क्रमबद्धता की रूढ़ि मददगार हो सकती है। चूँकि गायन के जिस चरण में इन बोल-तानों की ज़रूरत पड़ती है, वह द्रुतलय में होता है, अतः गायक धड़ल्ले से तानों पर तानों की झड़ी लगाता रहता है। इस चरण पर कोई उससे दूसरी उम्मीद तो बाँध सकता नहीं, इसलिए गति और जीवंतता का भ्रम उचित प्रेरणा के अभाव में भी आसानी से खड़ा हो जाता है। दूसरे, यह रूढ़िपालन इसलिए ज़रूरी समझा गया था कि गायन की निश्चित परिणति यानी 'क्लाइमैक्स' के लिए एक पुख्ता ज़मीन हासिल की जा सके। 'क्लाइमैक्स' तक पहुँचने का एक बुनियादी सिद्धांत यही है कि क्या लय की दृष्टि से, क्या जटिल संयोजन की दृष्टि से और क्या स्वर के घनत्व की दृष्टि से, सभी तरह से यह ज़रूरी है कि गायक धीमे से शुरू करके द्रुत की ओर बढ़े, सरल से जटिल की ओर बढ़े और मद्धिम सुर से आरम्भ करके धीरे-धीरे आवाज़ बढ़ाते हुए तीव्र की ओर संचरण करता जाए। इन सभी बातों में कुमार गंधर्व काफ़ी भिन्न पड़ जाते हैं क्योंकि संगीत में मूल्यों का जो ढाँचा उन्होंने अपने लिए स्वीकार किया है, वह पद्धतियों और रूढ़ियों के ऊपर संपूर्ण प्रभाव को, आविष्कार-क्षमता को तथा वातावरण निर्मिति को तरज़ीह देता है। जाहिर है कि यहाँ वह नया कुछ पाने के साथ खो देने का खतरा भी मोल ले लेते हैं। मगर यही तो बात है कि सुरक्षा का मोह छोड़ देने और खतरा मोल लेने की प्रवृत्ति के कारण कुमार गंधर्व के संगीत में एक प्रयोगशील साहसिकता और अप्रत्याशित की उत्तेजना आ सकी है।

खयाल के अलावा उन्हें भारतीय संगीत के दो और तीव्र प्रकृति के रूपों में भी उल्लेखनीय सफलता मिली है : 'तराना' और 'टप्पा' में। कुमार गंधर्व के कलात्मक स्वभाव को ये दोनों काफ़ी रास आते हैं : अपनी तेज़ लय-गति लघु इकाइयों वाली संरचनाओं और ध्वन्यात्मक विन्यासों की सूक्ष्मता के कारण। कुमार गंधर्व यदि उन्हें कम कसरती, अधिक कलात्मक रूप देने में सफल हुए हैं तो इसका कारण यही हो सकता है कि वह हल्की-फुल्की वाहवाही लूटनेवाली 'चीज़ों' के रूप में न लेकर सार्थक संगीत-कलारूपों की हैसियत से अपनाते हैं। 'टप्पा' पर सामान्यतया जानबूझकर जो कठिन बौद्धिक व्यायाम की प्रसिद्धि थोपी गयी है, उससे

उन्होंने उसे उभारा है। उनकी विशेषता इन कलारूपों के प्रति उनके नये दृष्टिकोण में निहित है न कि आवाज़ की लोच या किन्हीं अन्य शारीरिक हरकतों में। लोच आदि गुण कई दूसरे गायकों में भी मिल जायेंगे मगर सिर्फ़ उनके बूते यह नयापन वे पैदा नहीं कर सकते क्योंकि उनमें नयी दृष्टि की मौलिकता नहीं है।

इसके पहले कि हम कुमार गंधर्व के गायन के बारे में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालें, हमें दो और कलारूपों पर भी विचार कर लेना चाहिए। 'भजन' इनमें से एक है जिसके साथ काफ़ी मनमानी बरती जाती रही है। देश के सभी प्रांतों और सभी भाषाओं में भजन की एक सुदीर्घ परंपरा चली आयी है, जिसके कारण इसमें श्रोताओं को आकर्षित करने और बाँधने की अपूर्व क्षमता है। इसके माध्यम से भारतीय श्रोताओं के लिए - चाहे वे जिस भी स्तर के हों - संगीत को समान रूप से आस्वाद्य बनाना आसान है। चाहे भक्तिभाव हो या न हो, भजन गाकर आप विशाल जनसमूह को रिझा सकते है। इस लोकप्रियता के चलते इस कलारूप में भी कई कलात्मक खामियाँ आ घुसी हैं, जैसे पिष्टपेषण, स्कूली आसानी और घिसी-पिटी प्रस्तुति। कुमार गंधर्व को यह श्रेय दिया जायेगा कि उन्होंने भजन की कलात्मक साख बढ़ायी और उसे सचमुच के कलारूप के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भजन को संगीतात्मक चिंतन का माध्यम बना दिया। प्रचलित भजनों के छंदों को बदले बिना ही उन्होंने उन्हें अपनी संगीत-कल्पना में कुछ उसी तरह गढ़ा और तराशा जैसे कि कोई भी प्रतिभाशाली कंपोजर किसी काव्य को संगीत में बदलता है। इसके अलावा उन्होंने भजन में एक सूक्ष्म लोक-तत्त्व का प्रवेश कराया जिसके कारण उनमें एक विशिष्ट निखार आ गया। एक और खूबी कुमार गंधर्व के भजन-गायन की यह देखने में आयी कि परंपरागत रूपों की भावपूर्ण टंकार को उन्होंने क़ायम रखा और इस प्रकार परंपरा और प्रयोग दोनों का भरपूर लाभ उठाने में सफल हुए।

भजन की ही भाँति कुमार गंधर्व ने लोकगीतों को भी महफ़िल-गायकी के एक प्रतिष्ठित अंग के रूप में मान्यता दिलाने का बीड़ा उठाया। यहाँ भी नृतत्त्वशास्त्रीय प्रामाणिकता की बजाय संस्कारी संगीतज्ञ का स्वर-विवेक ही उनके लिए चयन की कसौटी रहा है। गीत में लोक-तत्त्वों को उन्होंने कुछ इस तरह मर्यादित किया है कि उनका स्वर-वैशिष्ट्य उभरकर सामने आए। अपनी सांगीतिक अभिव्यक्ति में उन्होंने जिन मुख्य लोक-तत्त्वों पर ध्यान केंद्रित किया है वे हैं : शब्द-विन्यासों का तीखापन, लयात्मक विन्यासों के ध्यानाकर्षक स्वराघात और हल्के से उभारे या दबाए गए ध्वन्यात्मक मूल्य। साथ ही विषय-वस्तु के आधार पर गीतों का वर्गीकरण करते हुए उनकी साहित्यिक गुणवत्ता का पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने कंठसंगीत में समृद्धि की है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अशास्त्रीय गायनरूपों में उन्होंने एक और वृद्धि की है। इतना तो स्पष्ट ही है कि संगीत-रचनाओं के रूप में लोकगीत भले ही हममें दिलचस्पी जगायें, विशुद्ध संगीत की दृष्टि से उनमें उतना टिकाऊपन नहीं होता और न वैसी तेजस्विता।

यहाँ पर यह उचित होगा कि हम कुमार गंधर्व के संपूर्ण संगीत संबंधी दृष्टिकोण के कुछ सामान्य चारित्रिक पहलुओं पर विचार कर लें। उनकी सफलताओं की चर्चा की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उन सफलताओं को उनके स्रोत से अर्थात कुमार की संगीत-प्रतिभा के मूल तत्त्वों से जोड़ा जा सकता है। और चुँकि हम बाद में उनकी विफलताओं का भी लेखा-जोखा करेंगे, इससे उनकी सांगीतिक प्रवृत्तियों की आंतरिक श्रृंखला और तर्क-संगति भी अधिक उजागर हो सकेगी। अंततः हमें कला-जगत के इस विचित्र विरोधाभास का ही सामना करना पड़ता है कि किसी कलाकार की कलात्मक विफलताएँ भी सामान्यत: उसकी गुण-संपदा से ही जुड़ी रहती हैं। यदि ऐसा है तो इसे भी कलाकार-व्यक्तित्व की एकरूपता के प्रति एक ऋणात्मक श्रद्धांजलि के रूप में ही लेना होगा।

कुमार गंधर्व के संगीत-संबंधी दृष्टिकोण की सबसे उल्लेखनीय पहचान है उनकी संपूर्ण सार-संग्रही वृत्ति। निस्संदेह इस उदार चयनधर्मिता के बीज उनके गुरु प्रो. बी.आर. देवधर की शिक्षण-पद्धति में देखे जा सकते हैं। किंतु मुख्यतः इसका मूल कुमार की उस विवेक-दृष्टि में खोजा जाना चाहिये जिसके बल पर उन्होंने दूसरे संगीतज्ञों की अलग-अलग खूबियों को ग्रहण किया और फिर इन

सारे ऋणों को एक समीकृत संपूर्णता में रूपांतरित किया। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके द्वारा दूसरों से ग्रहण किये वे सारे तत्त्व इस कदर घुलमिलकर एकजान हो गये हैं कि उन्हें अलगाकर पहचाना-पकड़ा नहीं जा सकता। उन्हें निश्चय ही पहचाना जा सकता है, क्योंकि उपरोक्त अर्थ में गायन के तत्त्वों का वैसा रासायनिक संयोग संभव ही नहीं है। यहाँ योग का अर्थ यौगिक के मूल तत्त्वों का पहचान से परे विसर्जित हो जाना कदापि नहीं है। यहाँ योग का मतलब एक अच्छी बुनावट से है। ऐसी बुनावट से, जिसमें मूल सूत्र पहचाने तो जा सकते हैं, लेकिन एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

कुमार गंधर्व आवाज़ के इस्तेमाल के मामले में अब्दुल करीम खाँ के तरीकों पर बहुत ज्यादा निर्भर रहे हैं। यह तरीक़ा संगीत की निजी शब्दावली में अपर रजिस्टर कहलाता है जिसके द्वारा ऊँचे सुरों में तीक्ष्णता लायी जाती है। दूसरा ऋण उन पर पंडित ओंकारनाथ ठाकुर का है जिनकी सांगीतिक अभिव्यक्ति को नाटकीय बनाने की कई सारी युक्तियों का सीधा असर उन पर देखा जा सकता है। ये युक्तियाँ हैं : आवाज़ को ऊँचे और मंद्र उपयोग के दौरान इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकने का लचीलापन, शब्दों को इस प्रकार उच्चारित करना कि वे हमें सामान्य बोलचाल की तात्कालिकता का स्वाद देने लगें, लयों का आकस्मिक संघात, इत्यादि। एक और भी खासियत कुमार के गायन की ओर हमारा ध्यान खींचती है और वह है विरामों (मौन) का सोद्देश्य कौशलपूर्ण उपयोग। हमें स्व. पंडित रामकृष्ण बुआ वझे का स्मरण होता है - उनकी शालीन गतिशीलता और सुनिर्दिष्ट विरामों का। ये विराम संगीत को हमारे अंदर अंतर्लीन करने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार उक्त गायक को छोटीछोटी सांगीतिक इकाइयों के अप्रत्याशित निर्वाह में बड़ी महारत थी। कुमार गंधर्व के सांगीतिक वातावरण से सुपरिचित लोग इन सारी समानताओं को बखूबी पहचान सकते हैं। सिर्फ एक ही चीज़ कुमार गंधर्व की ऐसी है जिसे मैं किसी अन्य संगीतज्ञ के साथ आसानी से नहीं जोड़ सकता और वह है उनका 'ध्वनि-शास्त्र'। हेमलेट की शब्दावली में कहूँ तो कुमार गंधर्व शब्दों का उच्चारण जिस तरह से करते हैं, उसे 'ट्रिपिंगली ऑन द टंग' कहना होगा। जहाँ तक हिंदी, ब्रज या अन्य हिंदुस्तानी रचनाओं का प्रश्न है, उच्चारण का यह तरीका शब्दों को अधिक तरल और गत्वर बनाता है। शब्द इस तरह जड़ नहीं पकड़ते, अवरोध पैदा नहीं करते और गायक को अपनी घुलावट में जकड़ते नहीं। मेरी धारणा यह है कि कुमार अवचेतन रूप से अपनी मातृभाषा यानी कन्नड की लयगति से प्रभावित हैं। रोजमर्रा की बातचीत में भी उन्हें इतनी जल्दी-जल्दी बोलने की आदत है कि कभी-कभी आधे शब्द खो-से जाते हैं। यहाँ पर यह याद कर लेना भी ज़रूरी है कि स्वर्गीय बाल गंधर्व भी शब्दों का इसी तरह उच्चारण करते थे, हालाँकि उनके ऐसा करने का कारण दूसरा था : स्त्री पात्रों की भूमिका अदा करने के लिए उन्हें यही तरीक़ा अधिक स्वाभाविक लगता होगा। किंतु प्रभाव समान है। इससे उनके संगीत में एक द्रवणशीलता का समावेश हो जाता था। मैं समझता हूँ, कई दूसरे संगीतज्ञों की भी अलग-अलग खूबियों का प्रभाव कुमार गंधर्व पर अवश्य पड़ा होगा। इसके बावजूद कुमार गंधर्व की चयनधर्मिता के बारे में हमारा निष्कर्ष पूर्ववत संगत रहेगा।

बेहतर शब्दावली के अभाव में, मैं कुमार गंधर्व की संगीत-दृष्टि की दूसरी विचित्रता को सांगीतिक साक्षरता की संज्ञा देना चाहूंगा। कुमार गंधर्व ने संभवतः सांगीतिक अभिव्यक्ति और सांगीतिक अनुभव की अनेक-रूप-समृद्धि का अपनी अंतर्दृष्टि से साक्षात्कार कर लिया है। इस कारण वह अनेक प्रकार के रचनात्मक उत्तेजन प्राप्त करने और अपनी ही विविध प्रणालियों से उन्हें अभिव्यक्त करने में सफल हो सके हैं। सभी जानते हैं कि टप्पा गायकी उन्होंने किसी से विधिवत सीखी नहीं थी। फिर भी पुस्तकों में उपलब्ध अनेकानेक स्वरलिपियों की अपनी सूझ-बूझ के मुताबिक व्याख्या करते हुए उन्होंने खुद ही इस गायकी को अपने लिये एक प्रकार से पुनराविष्कृत किया। संगीत में पात्रता की एक विशेष मंजिल छू लेने के बाद भी गुरु पर निर्भर रहना मनुष्य के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है। अगर इस आधुनिक युग में भी - श्रव्य-दृश्य साधनों की अपूर्व विपुलता के बावजूद - कोई आदमी अपना भंडार और अपनी संगीत-चेतना के संवेदन-स्तर को नहीं बढ़ा सकता तो इससे उसका पिछड़ापन ही साबित होगा। बाल गंधर्व के मंच-गीतोंवाले अपने कार्यक्रम में कुमार गंधर्व सांगीतिक साक्षरता के एक और आयाम (पहलू) पर अपने अधिकार को प्रमाणित करने में क़रीब-क़रीब

सफल हो सके हैं। उन्होंने किया यह कि बाल गंधर्व के उन गीतों का, जो कि रिकार्ड के रूप में सुलभ थे, गहरा अध्ययन किया और उन्हें बीज-रूप में सामने रखते हुए अपने ढंग से पुनर्रचना की। इस प्रकार वह बाल गंधर्व का एक नया संस्करण प्रस्तुत कर सके। एक दूसरा पक्ष भी उनकी इस सांगीतिक साक्षरता का ध्यान देने योग्य है और वह सचमुच साहित्यिक पक्ष है। अपनी स्वयं की रचनाओं में उन्होंने नया सामाजिक कथ्य उँड़ेलते हुए पदों को नयी अर्थवत्ता दी है और पुराने लोगों के इस खयाल को जबर्दस्त चुनौती दी है कि संगीत में शब्दों का महत्त्व स्वरों को टाँगने की खूँटियों से ज्यादा कुछ नहीं है। अपनी रचनाओं में उन्होंने मालवी के लोक-मुखर शब्दों का प्रयोग किया है जिससे ध्वन्यात्मक वैविध्य बढ़ा है। ये सारी बातें कुल मिलाकर एक ऐसे संगीतकार की तस्वीर हमारे सामने पेश करती हैं जिसकी खोजी बुद्धि उसे सांगीतिक सार्थकता के नित नये अन्वेषणों के लिए प्रेरित करती रहती है।

इस सबके बावजूद यह चयनधर्मिता और साक्षरता भी प्रयोग के ही स्तर पर रह जाती, यदि कुमार गंधर्व में वह बुनियादी गुण न होता जो इन्हें बढ़ावा दे। वह गुण है संगीत की उत्कट एकाग्रता, जो कि एक बड़ी दुर्लभ वस्तु है। चाहे अपने वाद्यों की सार-सँभाल का प्रश्न हो, चाहे किसी महफ़िल का कार्यक्रम बनाना हो, छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीजों में भी वही उनकी बुनियादी एकाग्रता काम करती दिखाई देती है। सभी संगीतज्ञ इस बात पर सहमत होंगे कि गायक के लिए अच्छी तरह मिला हुआ तानपुरा उसकी सफलता की पहली शर्त है, क्योंकि उसके कारण वातावरण निर्मित होता है, सही मूड जमता है और श्रोताओं का ध्यान भी एकाग्र होता है। मगर यह सचमुच खेदजनक है कि बहुत थोड़े-से संगीतज्ञ इस मामले में सजग और सावधान दिखाई देते हैं। यदि कोई संगीतज्ञ महफ़िल में गायी जानेवाली चीजों का पूरा खाका लिखित रूप में अपने लिए तैयार करता है तो यह प्रमाण है कि महफ़िल की एक संपूर्ण सांगोपांग कल्पना उसके पास है, जिसमें राग, ताल, अपनी आवाज़, अपनी मनःस्थिति, स्थान-काल आदि सभी अवयवों को एक संगत अवस्था में संदर्भित और स्वायत्त कर लिया गया है। संगीत से जुड़ी हुई सारी वस्तुओं के प्रति यह गंभीर एकाग्रता एक सृजनात्मक अंतर्विवशता की द्योतक है। यह प्रमाण है कि सृजनधर्मी कलाकार के लिए संगीत से जुड़ी छोटी-से-छोटी बातें भी कभी उपेक्षणीय नहीं होतीं। आखिर गायन-वादन का कोई भी गंभीर प्रदर्शन कई अभिव्यंजना प्रणालियों की एकाग्रता से संभव होता है। स्वधर्म-निर्वाह का ऐसा ऊँचा स्तर ही कलाकार की गरिमा के अनुकूल है।

मेरी समझ में यह एकाग्रता का गुण ही कुमार गंधर्व को उन थोड़े-से अग्रणी कलाकारों में शामिल करता है जो सचमुच अपनी तात्कालिक प्रेरणाओं पर आशु-आविष्कारक्षमता के भरोसे काम करते हैं। हालाँकि सभी संगीतज्ञ इस आशु-प्रतिभा का दावा करते हैं, सच्चे अर्थों में आशु-प्रतिभा या तात्कालिक आविष्कार-क्षमता वह क्षमता है जो हमें संगीत की अक्षय समृद्धि का अनुभव कराती है - अपने अप्रत्याशित अननुमेय संयोजनों के द्वारा। जब कोई कलाकार सचमुच इस आशु-प्रतिभा का धनी होता है तो वह संपूर्ण राग के स्वरूप को मन में सँजोये रखकर भी प्रत्येक क्षण एक नया निर्माण करता है, प्रत्येक क्षण हमें राग की रमणीयता का नया, ताज़गी-भरा और अप्रत्याशित अनुभव देता है। संगीत की यह आशु-रचनात्मकता हमें निरंतर एक उत्कट आशा और आकस्मिक परितृप्ति के अनुभवों से गुज़ारती रहती है। कुमार गंधर्व इस आशु-रचनात्मकता पर कितना निर्भर रहते हैं, यह इससे जाहिर है कि वह राग-विस्तार की सीढ़ी-दर-सीढ़ी आगे बढ़ने की सुरक्षापूर्ण विधियों की परवाह नहीं करते। ऐसा लगता है कि हर बार किसी राग को गाते समय वह नये सिरे से उसकी संभावनाओं का अन्वेषण कर रहे हैं। हर गायक की महत्त्वाकांक्षा रहती है कि किसी क्षण-विशेष की मनःस्थिति का सांगीतिक अभिप्राय क्या है, इसे तुरंत पकड़ सकने की सिद्धि उसे किसी तरह हासिल हो जाये। यह प्रेरणा कई रूपों में संगीतकार की चेतना को पकड़ सकती है। कभी वह उसे एक ही अंग के वैविध्य में इस तरह रमा सकती है जैसे वही समूची सृष्टि हो, कभी बंदिश का कोई वाक्यांश नये-नये लयात्मक विन्यासों के अंतहीन अवसर प्रदान करता प्रतीत होता है, कभी-कभी कोई खास चलन (गति-परिवर्तन) संगीतकार का ध्यान खींचता है और संगीतात्मक बिंबों की लड़ियाँ गुंथी चली आती हैं। आशु रचना या इंप्रोवाइजेशन का मतलब ही यह है कि गायक किसी भी क्षण संभावना की एक क्षणिक झलक पाते ही अपने पूर्व-नियोजित ढंग को

बदलने और अप्रत्याशित मोड़ देने के लिए प्रस्तुत रहे। स्पष्ट ही, इसमें खतरे ही खतरे हैं। ऐसे ही क्षणों में कलाकार जीवन और मृत्यु के साक्षात्कार से गुज़रता है। कुमार गंधर्व ऐसे क्षणों को न केवल आमंत्रित करते हैं, बल्कि उन पर सब कुछ निछावर कर देने तथा कोई भी खतरा उठाने को हमेशा तैयार रहते हैं। इसी प्रेरणा के बल पर वह लोकधुनों में राग-तत्त्व की झलकियाँ पा सके हैं। इसी कारण, प्रेरणा के इसी गतिशील सिद्धांत के बल पर वह खयाल-गायकी के विस्तारात्मक चरणों के सामान्य क्रम में उलट-फेर कर लेते हैं। किसी धुन, राग, बंदिश या चलन के अंतर्निहित रहस्यों का पारदर्शन संगीतज्ञ के लिए बहुत बड़ा आकर्षण होता है। मगर वैसा करना हमेशा सिद्धि की ओर ले जायेगा, इसकी क़तई कोई गारंटी नहीं है। अपरिचित रास्तों पर भटक जाने की गुंजाइश काफ़ी होती है। जो जाना-पहचाना और आज़माया हुआ सुनिश्चित रास्ता है, उसे छोड़कर अपरिचित रास्ते पर चल देना बड़े दुर्लभ आत्मविश्वास की माँग करता है। कुमार गंधर्व महान संगीतज्ञों की सर्वोत्तम और स्पृहणीय परंपराओं से जुड़ते हुए इस कठिनतर मार्ग का वरण करते हैं।

दरअसल ये सारी विशेषताएँ हमारे खयाल-संगीत में कोई दो पीढ़ी पहले बराबर मौजूद थीं। मगर इस तथ्य को लोग सामान्यत: भूल ही जाते हैं। मध्यलय के लिए आप उस्ताद रहमत खाँ के रिकार्ड सुन लीजिये, लचक और सुकुमार स्पर्शों का अनुभव करना हो तो कराची के मुबारक अली खाँ और बंबई के सिंधे खाँ की रचनाएँ सुनिए, तराना और टप्पा के कल्पनाशील प्रयोगों को देखना हो तो ग्वालियर घराने के दिग्गजों की याद कीजिये जिनके, दुर्भाग्यवश, कोई रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं हैं। यदि आपको यह जानने में दिलचस्पी हो कि भजन जैसी परंपरागत अर्द्ध लोकधुनों को गंभीर शास्त्रीय गायकी का दर्जा कैसे हासिल होता है तो आप वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में गाये जानेवाले पुष्टि-संगीत और अब लगभग मृतप्राय अष्टपदी की परंपरा का अवलोकन कर देखिये। सच्ची बात तो यह है कि कुमार के संगीत को पुनरुत्थानवादी, अतीतमूलक तक कहा जा सकता है, क्योंकि उनके यहाँ हम पुराने तौर-तरीक़ों का पुनः आविर्भाव देखते हैं। वही पुरानी वृत्तियाँ हैं : केवल संदर्भ नया हो गया है। यही कारण है कि मैंने उन्हें परंपरा के भीतर प्रयोग करने वाला कहके निरूपित किया है। रूढ़िवादी से वह इसलिए अलग पड़ जाते हैं क्योंकि वह परंपरा को रूढ़िमात्र मानने से इनकार करते हैं। इसी तरह मात्र प्रयोगवादी और नवीनता का आग्रही भी उन्हें मानना ग़लत होगा, क्योंकि वह वर्तमान को हमेशा अतीत के परिप्रेक्ष्य में देखते आये हैं।

इसी पृष्ठभूमि में हम उनकी कलात्मक विफलताओं का भी विश्लेषण कर सकते हैं। मेरी राय में कुमार गंधर्व तीन बातों में बहुत दूर तक असफल हो चुके हैं। ये तीन बातें हैं : नाद-सर्जना, ठुमरी और अभंग एवं भावगीत।

नाद-प्रस्तुति के मामले में कुमार गंधर्व के यहाँ एक बड़ी भारी त्रुटि या कमी का अहसास होता है। ज़्यादातर उनका ज़ोर उस स्तर की आवाज़ पर रहता है जिसे संगीत की शब्दावली में फ़ॉल्सेटो (उच्च स्वर) कहा जाता है। कोई भी कंठस्वर जो फ़ॉल्सेटो (उच्च स्वर) पर ही आश्रित रहता है, संगीत के प्रति पूरा न्याय नहीं कर सकता, क्योंकि फ़ॉल्सेटो आवाज़ें हमें चमत्कृत तो अवश्य कर सकती हैं किंतु नाद का वह स्वरूप खड़ा नहीं कर सकतीं जो मुख्यतः ओवरटोन स्ट्रक्चर के संपूर्ण निर्वाह पर आधारित होता है। आवाज़ निकालने का यह इकतरफ़ापन संगीतज्ञ को किस क़दर पंगु कर दे सकता है, यह इसी से प्रमाणित हो जाता है कि कुमार गंधर्व अभी तक पूरिया, दरबारी, मल्हार, मालकंस सरीखे उन रागों के प्रति न्याय नहीं कर पाये हैं जो नीचे के सुरों पर ही विकास पाते हैं। मंद्र पंचम से लगाकर मध्य षड़ज तक के ध्वनि-विस्तार में कुमार गंधर्व का कंठस्वर एकदम निष्प्रभावी है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि फ़ॉल्सेटो आवाज़ पर वे ही गायक निर्भर करते हैं जिनके कंठस्वर में विस्तार और घनत्व अपेक्षाकृत बहुत क्षीण होता है। इस कमी के अलावा जो एक दूसरी दिक्कत उनके साथ है, वह यह है कि उन्हें ताक़त लगाकर आवाज़ खींचनी पड़ती है। इस प्रकार के कंठस्वर को ठीक-ठीक परिभाषित करना तो बड़ा कठिन जान पड़ता है, पर मोटे तौर पर कह सकते हैं कि इसकी प्रवृत्ति बिना समस्वर गूँज पैदा किये आवाज का महज़ आयतन बढ़ाने की हुआ करती है। यह तो ज़ाहिर बात है कि महज़ साँस के ज़ोर से आवाज में गूँज और गोलाई नहीं पैदा की जा सकती। सौभाग्य की बात है कि कुमार गंधर्व के स्वर (वॉवेल्स) अधिकतर सुनिर्मित होते हैं। मगर इतना तय है कि

ऊँचे तारत्व (पिच) वाली आवाज़ स्वरों के उच्चार में निहित संभावनाओं को पूरी तरह नहीं निभा सकती, क्योंकि उच्चतर आवृत्ति की रेंज में स्वर अपने आप अस्पष्ट हो जाते हैं - ऊँचे सुरों के ओवरटोन-स्ट्रक्चर के कारण। (यह भी एक ग़ौरतलब बात है कि कुमार गंधर्व आलाप की बजाय बोल-आलापों पर ज्यादा निर्भर रहते हैं क्योंकि बोल-आलाप मुख्यतः व्यंजन-समूलों से बने होते हैं। स्वर वहाँ स्वतः दबे रहते हैं।)

इतनी सीमित नाद-संपदा के रहते किसी भी संगीतज्ञ के लिए यह लगभग असंभव है कि वह अपनी आवाज़ में ऐंद्रिकता का गुण ला सके या कि पूरा भराव पैदा कर सके। जहाँ तक ठुमरी गायन का प्रश्न है, प्रेरणा की दीप्ति या स्वरों की बारीक़ से बारीक़ नक्काशी भी आपको अच्छा ठुमरी गायक नहीं बना सकती, अगर आवाज़ में वह दमख़म, वह भराव और ऐंद्रिकता न हो। ये गुण उस फ़ॉल्सेटो आवाज़ से बिलकुल विपरीत नाद-गुणों की माँग करते हैं जिन पर कि कुमार गंधर्व का सारा संगीत-कौशल आधारित है। यह थोड़ा विस्मयकर लगता है कि कुमार गंधर्व की सजग संगीत-संवेदना उस तर्क-संगति का अनुसरण क्यों नहीं करती जिस पर ठुमरी की सारी प्रभावोत्पादकता आधारित है। स्वभावतः यहाँ वह अपनी ही क्षमताओं से पिट जाते हैं और विफल होकर रह जाते हैं।

किंतु भावगीत और अभंग के क्षेत्र में कुमार गंधर्व की विफलता का कारण इससे कुछ भिन्न है। कुमार गंधर्व इन कला-रूपों के भाषा-केंद्रित आकर्षण को पकड़ नहीं पाये हैं। ये कला-रूप काफ़ी हद तक रचनाओं के शब्दों के सही उच्चारण और सही इनटोनेशन पर निर्भर हैं। कुमार गंधर्व के मराठी उच्चारण कुछ ज्यादा ही वैचित्र्यपूर्ण हैं और अपनी तेज़ गति के कारण थोडे अस्पष्ट भी हो जाते हैं। कुमार गंधर्व जैसा व्यक्ति, जो अपनी हिंदुस्तानी रचनाओं के शब्दार्थ और ध्वन्यार्थ के प्रति इतना सजग संवेदनशीलता का परिचय देता है, मराठी के संगीत-रूपों के प्रति इस क़दर चलताऊ रुख अपनाकर कैसे संतुष्ट हो लेता है, यह बड़े अचरज का विषय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी श्रवण-संवेदना में एक ग़लत चयनधर्मिता है। प्रत्येक भाषा आपसे यह माँग करती है कि आप उसकी अंतर्निहित परंपराओं का सम्मान करें। यदि महाराष्ट्र के कुछ दूसरे संगीतज्ञों पर यह आरोप लगाया जा सकता हैं कि उन्होंने हिंदी या दूसरी भाषाओं में रचे गये पदों को गाते समय अक्षम्य भूलें की हैं तो कुमार गंधर्व ने भी मराठी के साथ उसी तरह की मनमानी की है।

एक और आपत्ति मुझे उठानी है और अगर कुमार गंधर्व इतने उच्चकोटि के कलाकार न होते तो शायद इसकी भी ज़रूरत मैं नहीं समझता। जैसी उनकी कीर्ति है, संगीत की जैसी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय उन्होंने दिया है, उसे देखते हुए कुमार से हमारी यह अपेक्षा अनुचित न होगी कि उन्हें एक योग्य गुरु की अतिरिक्त दायित्वभावना भी स्वीकार करनी चाहिये। मुझे यह कह देने में कोई हिचक नहीं कि अभी तक कुमार गंधर्व का कोई भी शिष्य इस कोटि तक नहीं पहुँचा है कि उसके बारे में पूर्ण-पारंगत कलाकार का दावा संगत लगे। मुझे यह भी कहना पड़ेगा कि कुमार गंधर्व की शिक्षण-विधियाँ क्या हैं, इस विषय में कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य अभी तक सुलभ नहीं है। तो भी यदि कुमार गंधर्व के शिष्यों के गायन पर से ही मुझे अपना निर्णय देना हो तो मुझे लगता है कि कुमार गंधर्व वही ग़लती दुहरा रहे हैं जो उनके जैसे विलक्षण प्रतिभासंपन्न कलाकार अकसर किया करते हैं : वे यह मानकर चलते हैं कि हर थोड़ी-बहुत संभावनावाला संगीतज्ञ उन्हीं की जैसी प्रतिभा और उन्हीं की जैसी प्रकृति और रुझान का होगा। ऐसा नहीं लगता कि भावदशा को साधने के अलावा भी किसी अन्य विधि का अनुसरण उन्हें अभीष्ट होगा। मगर सभी कलाकार इस बात में एकमत होंगे कि सिखाने और सीखने की प्रक्रियाओं में 'ड्रिलिंग' (अभ्यास) की उपयोगिता निश्चय ही काफ़ी होती है। सिर्फ़ बहुत बिरली परिस्थितियों में इस नियम को थोड़ा शिथिल किया जा सकता है। गुरु के लिए तो यही मानकर चलना श्रेयस्कर है कि उसका शिष्य जीनियस नहीं है और उसे शिक्षण के समूचे अनुशासन से गुजरना ही है। यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमार गंधर्व अपने शिष्यों की नकलची प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में असफल रहे हैं। हालाँकि कोई भी गुरु अपने शिष्यों को अपने अनुकरण से पूरी तरह नहीं बचा सकता, और भी ज्यादा जबकि कलाकार-गुरु स्वयं संगीत-जगत का माना हुआ कलावंत और नयी दिशाएँ खोलनेवाला हो। कुमार गंधर्व चूंकि सारे कलावंतों के बीच अपनी आत्म-सजगता के लिए प्रख्यात हैं, उनकी जिम्मेदारी और भी प्रखर हो जाती है।

इस सारे विवेचन के उपरांत यह कहने की शायद कोई जरूरत नहीं रह जाती कि कुमार गंधर्व ने हिंदुस्तानी संगीत के इतिहास में एक बिलकुल नया पृष्ठ जोड़ा है। भारतवर्ष आज जिस सर्वाधिक प्रबुद्ध और संपूर्ण संगीत-संवेदना और संगीत-चेतना का गौरव ले सकता है, उसका सच्चा प्रतिनिधित्व कुमार गंधर्व के यहाँ मिलेगा। संगीत की साधना को अपने जीवन-कर्म के केंद्र में स्थान देते हुए भी उनमें व्यावसायिकता लेशमात्र को नहीं है, साथ ही गहनतम भाव-संवेदना के धनी होते हुए भी उनमें अपने युग और अपने देश-काल का पूरा स्वीकार दिखाई देता है। उनका आत्मविश्वास इस प्रश्नाकुल बीसवीं सदी को संदेह की दृष्टि से नहीं देखता। अब जबकि एक गायक स्वर-कार, कर्म-कुशल संगीतज्ञ और परंपरानिष्ठ अन्वेष्टा की हैसियत से वह भारतीय संगीत में भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुके हैं, उन्हें गुरु की प्रौढ़ भूमिका भी अंगीकार करनी ही होगी, क्योंकि वह इस कार्य के लिए असंदिग्ध रूप से परिपक्व हो चुके हैं।